International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 06-07-2023, Accepted: 05-08-2023, Published: 20-08-2023
Volume 9, Issue 4, 2023, Page No. 56-62

साहित्य में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' का स्वरूप

सुनिल कुमार[1], डॉ. भरत कुमार[2]
[1]शोधार्थी, हिंदी–विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान, भारत
[2] शोध–निर्देशक, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी–विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान, भारत

सारांश
साहित्य के क्षेत्र में उत्तर–आधुनिकता पूर्व–स्थापित सभी सर्वमान्य एवं शाश्वत आलोचना–प्रतिमानों (सिद्धांतों) का अस्वीकार और निषेध है। उत्तर–आधुनिकता ने साहित्य के क्षेत्र में निर्मित सभी पूर्व–महाख्यानों (वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस, बाईबिल, कुरान, कामायनी, गोदान एवं काव्यशास्त्र आदि) को खारिज कर दिया है। उत्तर–आधुनिकतावाद के लिए साहित्य के परंपरागत एवं आधुनिक दोनों प्रकार के 'रूप' एवं 'वस्तु' अर्थहीन हो गए हैं। 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की मान्यता है कि साहित्य के पूर्व–स्थापित मानदंड, सिद्धांत और महावृत्तांत आभिजात्य वर्गों (भारत के संदर्भ में ब्राह्मणों) द्वारा निर्मित किए गए हैं जिनमें दलित–दमित, शोषित एवं उपेक्षित वर्गों के साहित्य को हीन समझकर बहिष्कृत किया गया है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में 'उत्तर–आधुनिकतावादी' विचारधारा इन्हीं आभिजात्य–वर्गों के वर्चस्व एवं केंद्रवाद को चुनौती देकर दलित–दमित वर्गों के साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र और साहित्यशास्त्र रचना चाहती है। उत्तर–आधुनिकतावादी विचारधारा का मानना है कि आभिजात्य साहित्य का लेखक अपनी भाषा के माध्यम से कितना भी अपने पूर्वाग्रहों को ढकने की कोशिश करे, विखंडनवादी पाठ की रणनीति (विरचना या विनिर्मिति या अपने–अपने संदर्भों में 'पाठ' को पढ़ने की रणनीति) उनकी दमितों के प्रति विराग–भावना को प्रकट कर ही देती है। इस प्रकार साहित्य में उत्तर–आधुनिकतावाद, पूर्व–स्थापित सिद्धांतों का विरोध करता हुआ अपने नए सिद्धांत निर्मित करना चाहता है। इसके लिए वह अनेक प्रकार की साहित्यिक चिंतन पद्धतियों यथा लेखक का अंत, साहित्य का अंत, महाख्यानों का अंत, विरचना अथवा विनिर्मिति, 'पाठ–प्रविधि', विमर्श–विश्लेषण, अस्मिता की खोज, सांस्कृतिक–अध्ययन अथवा 'नव–इतिहासवाद', सबाल्टर्न–स्टडी (अधीनस्थों का अध्ययन), नारीवाद, दलितवाद और अश्वेतों का अध्ययन आदि का इस्तेमाल करता है। कुल मिलाकर साहित्य के क्षेत्र में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' स्वयं द्वारा ईजाद की गई नवीन युक्तियों (प्रविधियों) के माध्यम से एक 'नव–लोकतांत्रिक' अथवा 'अति–लोकतांत्रिक' स्थिति की स्थापना करने का सद्प्रयास है।

मूल शब्दः महाख्यान, महावृत्तांत, शाश्वत–प्रतिमान, विखंडन, विरचना, विनिर्मिति, उत्तर–संरचना, विमर्श–विश्लेषण, 'पाठ', सौंदर्यानुभूति, स्वायत्तता, नव–इतिहासवाद, नव–मार्क्सवाद, सबाल्टर्न।

मूल प्रतिपादन –

साहित्यिक क्षेत्र में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' साहित्य के महान शाश्वत प्रतिमानों को अस्वीकार करते हुए मुख्यधारा के साहित्यशास्त्र के समानांतर उस प्रकार के एक नए साहित्यशास्त्र का निर्माण करना है जिसमें दमितों, दलितों, पिछड़ों, वंचितों, उपेक्षितों और हाशिए के लोगों के साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र और उनकी अस्मिता को कायम किया जा सके। भारतीय साहित्य के संदर्भ में 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' की साहित्यिक धारा का उद्भव और विकास साहित्य में इसी 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की विचारधारा का फलोत्पाद है। भारत के गरीब–गुरबों, दलितों–दमितों और स्त्रियों द्वारा उत्तर–आधुनिकता के प्रभाव को एक विकल्प के रूप में ग्रहण करने के संबंध में प्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र यादव ने लिखा है कि– ''उन्नीसवीं सदी में जिस तरह पश्चिम से राष्ट्रीयता की अवधारणा लेकर हमने अपनी राष्ट्रीयता गढ़ी, उसी तरह बीसवीं शताब्दी में लोकतंत्र और तलघरों में घुटते हुए लोगों ने पहली बार समानता और स्वतंत्रता की रोशनियाँ देखीं। आज उनकी आवाजों को अनसुना करना असंभव हो गया है। इन्हीं आवाजों में आज सबसी ऊँची आवाजें हैं दलितों और स्त्रियों की। सही अर्थों में वे ही समाज के सर्वहारा हैं। जो कुछ समाज में हो रहा है, उससे साहित्य और विचार और रचना का बचे रहना संभव कैसे हो सकता था ? या सारी दुनिया का जो केंद्रीय विमर्श है, वह हमारे यहाँ कब तक न रहता।''[1] अर्थात् आधुनिकता जो कि मध्यकालीन रूढ़िवादिता और ईश्वरीय सत्ता को विस्थापित कर 'मनुष्य' को 'केंद्र' में स्थापित करते हुए अस्तित्व में आई थी, उसने भी एक वर्ग विशेष के आधिपत्य एवं केंद्रवाद को जन्म देकर पिछड़े–वर्गों एवं उनके दुःख–दर्दों को समाज और साहित्य में उपेक्षित और हाशिए पर ही रहने को विवश किया। परिणामस्वरूप 'आधुनिकता' के प्रतिवाद के रूप में उत्पन्न 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की विचारधारा ने आधुनिकतावादी विशेष वर्गों (पूँजीपति, अभिजात, सामंत, ब्राह्मण, सवर्ण एवं पुरुष आदि) के केंद्रवादी वर्चस्ववाद को अपनी अनेक युक्तियों एवं रणनीतियों के माध्यम से चुनौती देते हुए दलितों, दमितों और पिछड़ों आदि को समाज और साहित्य में एक न्यायपूर्ण एवं सम्मानजनक स्थान देकर उनकी खोई हुई पहचान को पुनः कायम करने एवं विश्व में नाजीवादी–फासीवादी एवं साम्यवादी यातना, दमन और हिंसा के स्थान पर एक समतामूलक वैश्विक–समाज और शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व को प्रतिस्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया। यही कारण है कि भारतीय समाज और साहित्य के संदर्भ में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की 'नव–लोकतांत्रिक' विचारधारा को व्यापक स्वीकृति और वैधता प्राप्त हुई है। इस संबंध में सुधीश पचौरी का कहना है कि– ''भारत में शुरू होने वाला अस्मिता–विमर्श, दलित–स्त्री–विमर्श, भाषा संचेतना आदि की स्वीकार्यता, उत्तर–आधुनिकता की स्वीकार्यता है।''[2] 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की युगीन विचारधारा ने परंपरा, इतिहास और आधुनिकता के केंद्रवादी वर्चस्ववाद से दमित–दलित वर्गों और उनकी खोई हुई पहचान को समाज

में पुनःस्थापित करने के लिए साहित्य के माध्यम से जिन प्रविधियों अथवा आलोचनात्मक पद्धतियों (रणनीतियाँ कहना अधिक संगत होगा) को विकसित किया उनका स्वरूप कुछ इस प्रकार है–

साहित्य में 'महाख्यानों' का नकार–निषेध एवं अंत

'उत्तर–आधुनिकतावाद' के अनुसार प्रत्येक महान वृत्तांत (महाख्यान) की प्रकृति प्रभुत्ववादी अथवा वर्चस्ववादी है अतः वह अस्वीकार्य है। उत्तर–आधुनिकता के दृष्टिकोण से महावृत्तांत समाज की रूढ़ियों, परंपराओं तथा अंधविश्वासों को मान्यता या वैधता प्रदान करने के साथ–साथ वर्चस्ववाद को भी वैधता प्रदान कर समाज में हाशिए पैदा करते हैं इसलिए उनको चुनौती देना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से भारतीय संदर्भ में रामायण, महाभारत अथवा ब्राह्मणवादी साहित्य आदि सभी महावृत्तांत हैं। यही कारण है कि 'उत्तर–आधुनिकता' में आधिकारिक कथा या महाख्यान के स्थान पर 'लघु–वृत्तांतों' को वैधता प्रदान की गई है। 'उत्तर–आधुनिकतावाद' अपनी अतिशय जनतांत्रिक प्रकृति के कारण समाज एवं साहित्य दोनों क्षेत्रों में महावृत्तांतों के वर्चस्ववाद को चुनौती देता हुआ उन सब समूहों के अधिकारों एवं संघर्षों को मान्यता प्रदान करता है जो वर्षों से उपेक्षित, वंचित, शोषित, पद–दलित और हाशिए का जीवन जीते रहे हैं। इसीलिए हमारे यहाँ हिंदी–साहित्य में दलित, स्त्री और आदिवासी जैसे साहित्य को 'अस्मिता की राजनीति' कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तर–आधुनिक समाज और साहित्य में आकर तथाकथित सभी पारंपरिक, ऐतिहासिक और आधुनिकताकालीन महाख्यान अप्रासंगिक हो गए हैं क्योंकि अतीत में इन सभी महावृत्तांतों ने मनुष्य को खुशहाल जीवन देने की बजाए उसका दमन ही अधिक किया है। प्रसिद्ध उत्तर–आधुनिक सिद्धांतवेत्ता जां फ्रेंकोज ल्योटार्ड के मतानुसार– ''उत्तर–आधुनिकतावाद में किसी भी प्रकार के 'महाख्यान' हेतु अवकाश नहीं है, क्योंकि 'महाख्यान' की विश्वसनीयता समाप्त हो चुकी है।...विगत के महाख्यान समाप्त हो चुके हैं और उनका स्थान लेने वाला कोई नहीं है। क्योंकि विज्ञान, कला, आचार–शास्त्र सबकी भाषाएँ भिन्न–भिन्न हैं। समाज में क्या हो रहा है, इसका कोई समग्र बोध संभव नहीं है।...बड़े आख्यान नहीं रहे, जो कुछ है छोटी–छोटी कहानियाँ हैं, ये लघु आख्यान, सामूहिक की अपेक्षा व्यष्टिगत, वैश्विक की अपेक्षा क्षेत्रीय और समग्रता की तुलना में आंशिकता के वाहक हैं।''[3] अर्थात् ये लघु–वृत्तांत समाज और साहित्य में फिर से किसी विचार, दर्शन, सिद्धांत, आख्यान या सत्ता को 'केंद्र' में स्थापित होकर 'सर्वसत्तावादी निरंकुशतावाद' में बदल जाने को असंभव बना देते हैं। इसीलिए 'उत्तर–आधुनिकतावाद' साहित्य में लघु–वृत्तांतों को महत्व देकर समाज में भी किसी महाख्यान की (पूँजीवाद–समाजवाद–गाँधीवाद–अम्बेडकरवाद–लोहियावाद–ब्राह्मणवाद आदि) की ऐकिक सत्ता का प्रतिरोध उपस्थित करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तर–आधुनिकतावाद ने 'साहित्य' के क्षेत्र में महाख्यानों की समस्त सिद्धांतिकी को ही अस्वीकार कर दिया है। भारतीय संदर्भ में पारंपरिक काव्यशास्त्रीय (सौंदर्यानुभूतिमूलक तत्त्वों के) महाख्यानों, ऐतिहासिक ब्राह्मणवादी प्रतिमानों (जातीय–वर्चस्ववादी महाख्यानों) एवं आधुनिकतावादी आभिजात्यवाद आदि सभी को नकार दिया गया है। क्योंकि इन सभी का लक्ष्य अधिकाधिक शक्ति–सत्ता और वर्चस्व प्राप्त करना मात्र रह गया था। इसलिए इन महाख्यानों से विश्वास का अंत हो गया है, दूसरे शब्दों में वे प्रभावहीन हो गए हैं। उपन्यास 'दस बरस का भँवर' में 'श्यामसुंदर' नामक पात्र द्वारा 'रामायण' एवं 'बाह्मणवाद' के महाख्यानों के प्रति जो अविश्वास और संशय दर्शाया गया है वह भारतीय समाज और साहित्य की उत्तर–आधुनिकता को प्रकाशित करता है यथा– ''रावण महापंडित था। रामायण, रावण का राज हड़पने की कथा है। यह राम का साम्राज्यवादी अभियान था। ब्राह्मण तुलसीदास ने उसे महिमामंडित किया है ताकि वर्णाश्रम धर्म बना रहे। श्यामसुंदर की यही टेक थी। उनकी बैठक की एक दीवार पर दशानन की मढ़ी हुई एक तस्वीर लगी थी। शहर में यह अकेली रावण की तस्वीर थी। जय रावण।''[4] यानी भारतीय समाज और साहित्य में 'रामचरितमानस', 'राम', 'तुलसी', 'ब्राह्मणवाद' और 'वर्णाश्रम' जैसे महाख्यानों और उनके वर्चस्ववाद का ऐसा प्रतिरोध भारतीय हिंदी साहित्य में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की उपस्थिति और उसके प्रभाव को सूचित करता है। इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में एक भारतीय दल विशेष और उसके ब्राह्मणवाद द्वारा 'राम' का 'जय श्रीराम' के रूप में नया वर्चस्ववादी महाख्यान रचने का भी पात्र 'बाँकेबिहारी' द्वारा अपने इन शब्दों में प्रतिरोध किया गया है– ''देखिए, शहर का राम बदल रहा है। यह इतिहास से बदला लेना चाहता है (और अब तो बाबरी मस्जिद के स्थान पर राममंदिर का निर्माण कर इतिहास से बदला ले भी लिया गया है)। इसे बचाइए।... राम को उन हाथों से बचाइए जो उन्हें अस्त्र की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं। जब राम खुद बचेंगे, तभी वे आपको बचाएँगे।...नए राम 1949 में पैदा हुए जब बाबरी मस्जिद में मूर्तियाँ रखी गई। ये प्रतिशोधी राम हैं। ये तुलसीदास के राम से अलग हैं जो करुणा के सागर हैं। करुणा के सागर का गुजरात में लूट, बलात्कार और आगजनी से क्या संबंध हो सकता था ? बंदरों की सेना ने भी राक्षसों की लंका में ऐसा नहीं किया था। 'जैश्रीराम' के नारे बोलते हुए अहमदाबाद के बाजारों से टी.वी., फ्रिज या जूते–कपड़े चुराना कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं था। क्या कोई कल्पना कर सकता है कि राम की सेना लंका में स्त्रियों का बलात्कार करती ? फिर गर्भ चीरकर वे शिशु को निकालते और त्रिशूल की नोक पर टाँग देते ? चाहे लंका तामसी राक्षसों की लंका ही क्यों न हो ! राम की वानर सेना राक्षसी व्यवहार नहीं कर सकती थी। लूट और बलात्कार और आगजनी करते साक्षात् राक्षस राम की सेना नहीं हो सकते।''[5] यानी किस प्रकार मानवीय समाज में एक महावृत्तांत स्वयं को निर्मित कर सामाजिक मान्यता और वैधता प्राप्त करते हुए चरम निरंकुशतावाद में परिणत होकर 'नरसंहार' जैसी मानवीय त्रासदी पैदा कर देता है यह इस उद्धरण में दर्शनीय है। इसीलिए उत्तर–आधुनिकतावादी विचारधारा समाज एवं साहित्य दोनों में 'महाख्यानों' का प्रतिरोध उपस्थित कर उनके अंत की घोषणा करती है।

पूर्व–स्थापित साहित्यिक प्रतिमानों का अस्वीकार एवं आलोचना का अंत

उत्तर–आधुनिकतावाद द्वारा साहित्य के क्षेत्र में पूर्व–परंपराओं, उनके आदर्शों और मूल्यों को अस्वीकार करने एवं आधुनिकता की सार्वभौमिक सिद्धांत–निर्माण की प्रक्रिया को खारिज कर दिए जाने के कारण परंपरागत–काव्यशास्त्र और आधुनिकतावादी समस्त आलोचनाशास्त्र ही निरर्थक हो गया है। इसी के साथ–साथ सिद्धांतों की किसी भी प्रकार की समग्रता, पूर्णता, सार्वभौमिकता एवं शाश्वतता का निषेध कर दिए जाने के कारण साहित्य संबंधी नव–सिद्धांतों के प्रतिपादन एवं उनके महत्व का संकट ही उपस्थित हो गया है। एक तरह से 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की विचारधारा ने साहित्य की समस्त सिद्धांतिकी को ही संकटग्रस्त कर दिया है। इसलिए सुधीश पचौरी लिखते हैं कि– ''उत्तर–आधुनिक परिदृश्य में सिद्धांतिकी के क्षेत्र में भारी उपद्रव नजर आता है। उत्तर–आधुनिक स्थितियों के होने का इससे बड़ा प्रमाण और कुछ नहीं हो सकता कि वह किसी विचार को सिद्धांत रूप में स्थापित करने की चिंता का अवसर भी नहीं देती। अपने तीव्र छलनामय प्रपंच और लीला के बीच वह किसी 'सिद्धांत' को न टिकने देती है, न बसने देती है। बहुरूपी अति चंचल–यथार्थ का आगमन पिछली तमाम पद्धतियों को व्यर्थ करता चलता है। आधुनिकता के तमाम समीक्षात्मक औजार भोथरे होने लगते हैं।''[6] फिर भी अपनी विखंडनवादी रणनीति और अपने–अपने पाठ की रणनीति ने बिना सिद्धांत

निर्माण के भी साहित्य क्या समस्त शास्त्रों में ही पूर्व–स्थापित सिद्धांतों की जड़ें उखाड़ दी हैं। उत्तर–आधुनिकतावादी विचारधारा द्वारा साहित्य के क्षेत्र में पूर्व–स्थापित किसी भी प्रकार के प्रतिमानों अथवा शाश्वत सिद्धांतों की अस्वीकृति का मुख्य कारण इन प्रतिमानों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वर्चस्ववादी वर्ग–विशेष द्वारा प्रतिपादित करना रहा है। उत्तर–आधुनिकतावाद के इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं कि– ''साहित्य के शाश्वतवादी प्रतिमान आभिजात्य वर्गों द्वारा निर्मित प्रतिष्ठित किए गए हैं। आभिजात्य वर्गों का वर्चस्व होने के कारण इनमें दमित–शोषित, अपमानित, आवाज रहित, अल्प–समूहों के साहित्य को न केवल उपेक्षित रखा गया बल्कि उसे हीन मानकर 'नजरअंदाज' करने की एक सुनियोजित साजिश रची गई है। उत्तर–आधुनिकतावाद पूरी ताकत से आभिजात्यवादी साजिश के चक्रव्यूह को तोड़ना चाहता है। इसलिए वह उपेक्षित दमित साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्यशास्त्र निर्मित करना चाहता है। उसका विश्वास है कि अब कोई स्वीकृत सौंदर्यशास्त्र अर्थवान नहीं है और न कोई स्वीकृत कृति कालजयी और विश्वव्यापी। 'रामचरितमानस' हो या 'कामायनी' इनकी महानता से उत्तर–आधुनिकतावाद इंकार करता है क्योंकि इन सबमें आभिजात्य (ब्राह्मणवाद) की सृजन–माया का प्रपंच है।''[7] अर्थात् साहित्य मूल्यांकन के पूर्व–स्थापित मानदंड अपनी दमनात्मक प्रवृत्ति के कारण अब निरर्थक और अप्रासंगिक हो गए हैं अतः अब न तो रस–सिद्धांत और काव्यशास्त्र और न ही आधुनिकताकालीन समीक्षा–सिद्धांत साहित्य मूल्यांकन के प्रतिमान रह गए हैं। यही आलोचना का अंत है, जहाँ 'साहित्यिक–आलोचना' (लिटरेरी क्रिटिक) की अवधारणा की बेदखली होकर उसके स्थान पर 'विमर्श–विश्लेषण' (डिस्कोर्स एनालिसिस) की प्रति–स्थापना हो गई है। अर्थात् साहित्य को साहित्यिक पाठ (रसादि मूल्यांकन) की जगह असाहित्यिक दृष्टिकोण (पिछड़ों की राजनीति, नारीवाद, दलितवाद आदि के दृष्टिकोण) से देखना और इसी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते हुए विमर्श–विश्लेषकों द्वारा साहित्य में आभिजात्यवादी केंद्रवाद और उनके वर्चस्ववाद को सीधी चुनौती पेश करना। यही उत्तर–आधुनिक युग का नया 'आलोचनाशास्त्र' है जिसमें परंपरागत और आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के सभी पूर्वस्थापित और शाश्वत प्रतिमानों और उनकी महानता–उदात्तता को खारिज करते हुए केवल विमर्श विश्लेषण के गैर–साहित्यिक दृष्टिकोण को महत्व प्रदान किया गया है। इसीलिए सुधीश पचौरी ने उत्तर–आधुनिक आलोचक एवं लेखक के संदर्भ में लिखा है कि वह– ''अभाव में ही भाव ढूँढ़ता है। उदात्तता की खोज में नहीं निकलता। वह आनंद और दुःख का तनाव पैदा नहीं करता। वह उन तमाम स्थितियों को ढूँढ़ निकालता है जहाँ शांति नहीं है, उदात्तता नहीं है, अतीत राग नहीं है, दुर्लभता नहीं है। वह यदि प्रस्तुति योग्य भाव को खोजता भी है तो उसे अप्रस्तुति–योग्य बनाते हुए।...वह जो पाठ लिखता, जो निर्माण करता है उसके लिए कोई भी पूर्व–निर्धारित नियम लागू नहीं होते। उसकी कोई परंपरा नहीं है। वे पूर्ण निर्णयों से जाँचे नहीं जा सकते। हर कृति अपने नए नियम खोजती है। उत्तर–आधुनिक लेखक बिना नियमों के खेल खेलते हैं।''[8]

विखंडन–विरचना–विनिर्मिति अथवा 'अनुपस्थिति की तलाश'

साहित्य के क्षेत्र में पूर्व–स्थापित महाख्यानों, सिद्धांतों अथवा शाश्वत प्रतिमानों आदि के सर्वसत्तावादी–समग्रतावाद अथवा उनकी निरंकुश–सत्ता को केंद्रविहीन करने के लिए 'विखंडन' को उत्तर–आधुनिकतावादियों द्वारा एक रणनीति के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में 'विखंडन' वह रणनीति है जो 'पाठ' के पूर्व–निर्धारित–स्थापित ऐकिक अर्थ को विस्थापित कर उसके बहुल–अर्थों को स्थापित करती है। 'पाठ' का अभिप्राय उन सब तत्त्वों से है जिनमें दमन और शोषण वर्तमान होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति (हिटलर जैसा तानाशाह), संस्थान (राष्ट्र–राज्य एवं उनकी सेना, पुलिस, जेल, अस्पताल एवं अन्य एजेंसियां) और समाज (परिवार–विवाह–परंपरा आदि) सब पाठ हैं जो अपने प्रभुत्व–वर्चस्व के कारण व्यक्ति का दमन करते हैं। इसलिए उत्तर–आधुनिकतावाद 'पाठ' के पूर्व निर्धारित अर्थ (यानी उसकी सत्ता) को विस्थापित कर उन तत्त्वों को उद्घाटित करता है जिनका पाठ (व्यक्ति, समाज या संस्थान) द्वारा किसी–न–किसी रूप में दमन किया गया है। पाठ को पढ़ने की इस रणनीति अथवा सिद्धांत को ही 'विखंडन' का नाम दिया गया है। अंग्रेजी में इसे 'डी–कंस्ट्रक्शन' (निर्माण या रचना को तोड़कर बिखेरना) कहा जाता है। इसके माध्यम से उत्तर–आधुनिकतावाद ने आधुनिकताकालीन सभी सिद्धांत निर्माण के भवनों को तोड़कर (विरचित कर) चूर–चूर कर दिया है, खंडित कर दिया है। इस उत्तर–आधुनिकतावादी सिद्धांत विखंडनवाद के जन्मदाता प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक जॉक् देरिदा हैं। देरिदा ने अपने इस सिद्धांत के माध्यम से 'उत्तर आधुनिकता' के दार्शनिक–साहित्यिक पहलू को एक नया क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया है। विखंडन की इस रणनीति के माध्यम से आधुनिकताकालीन समस्त 'मानवतावाद' को ध्वस्त किया जाकर एक नए उत्तर–आधुनिकताकालीन 'नव–मानवतावाद' या 'अति–मानवतावाद' का निर्माण किया जाता है क्योंकि इसके माध्यम से 'पाठों' में मानव की 'दमित–अस्मिता' की खोज की जाती है। जो व्यक्ति को या आत्म–तत्त्व को और अधिक स्वायत्त–स्वतंत्र बनाती है। इस दृष्टि से साहित्य में विखंडन की पद्धति जिसे विरचना (रचना को भंग करना) या विनिर्मिति (रचना के निर्माण को खंडित कर अनेक अर्थों को प्राप्त करना) कहा जाता है का अप्रतिम महत्व है। इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल ने देरिदा के विखंडनवाद या विनिर्मितिवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि– ''पाठ (टेक्स्ट) के अध्ययन की वह पद्धति जिसके द्वारा न केवल निर्धारित अर्थ को विस्थापित किया जा सके बल्कि अर्थगत अद्वितीयत्व को विखंडित करके दबे हुए अर्थ का ग्रहण और भाष्य किया जा सके।''[9] इस प्रकार देरिदा के अनुसार 'पाठ' (व्यक्ति, समाज एवं संस्थान आदि) का अर्थ उतना ही नहीं है जितना पूर्व–परंपरा ने निर्धारित कर दिया है अथवा थोप दिया है। ज्ञान एवं भाषा के खेल से सत्ता एवं शक्ति ने जिन अर्थों को दबा दिया है, कुचल दिया है, पद–दलित कर दिया है, विनिर्मितिवाद (विखंडनवाद) उन अर्थों को भी उद्घाटित करता है। यानी विखंडन या विरचना केवल पूर्व निर्धारित अर्थ की ही खोज नहीं है अपितु रचना के नए–नए अर्थों का सृजन भी है, अनुपस्थित अर्थों की तलाश भी है, जिससे अर्थ (पाठ) का अधिनायकत्व टूटकर बिखरता है और पाठ में अर्थ वैविध्य का (समाज–संस्कृति में विविधताओं, भिन्नताओं, बहुलताओं का) सृजन होता है। इस दृष्टि से कोई भी साहित्यिक रचना या कृति भी एक पाठ (संरचना) है। पाठ चूंकि अपने अर्थगत स्वरूप में बहुलार्थक और अनिश्चित है अतः रचना या कृति के संपूर्ण अर्थ को खोज लिए जाने का दावा ही मिथ्या है। इस संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल ने उत्तर आधुनिक आलोचक के आलोचना कर्म के बारे में लिखा है कि– ''वह कृति का विखंडन करते हुए 'पाठ' के भीतर मौजूद उप–पाठ (सब–टेक्स्ट) और भाषा के भीतर छिपी संवेदना और विचारधारा को खोज निकालता है। लेखक भाषा–संरचना द्वारा अपने वैचारिक आग्रहों को कैसे भी और कितना भी छिपाने की कला में चतुर हो विरचनावादी–पद्धति (रचना को भंग करने की पद्धति) से उन्हें गहा (पकड़ा) जा सकता है।''[10] इस प्रकार देरिदा का विखंडन 'समाज' एवं 'साहित्य' में व्यक्ति द्वारा अपनी अस्मिता अथवा मुक्ति को (स्वयं की अनुपस्थिति को) खोजने का एक नया मुक्तिशास्त्र है जो उत्तर–आधुनिकतावाद की विचारधारा की विभिन्न अवधारणाओं (स्त्री–मुक्ति, दलित–मुक्ति, अश्वेत–मुक्ति, आदिवासी–मुक्ति आदि–आदि विभिन्न मुक्तियों) का मूल है। इस विखंडन

(मुक्ति) की जड़ें आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और शास्त्रों में फैल चुकी हैं। उत्तर–आधुनिकता के इस काल में ज्ञान के सभी शास्त्र अपने–अपने ढंग से इसका उत्तर–आधुनिक 'नव–पाठ' पढ़ रहे हैं।

साहित्य का पाठ–सिद्धांत एवं लेखक का अंत

देरिदा की विखंडन पद्धति (अर्थ–निर्धारण की पद्धति) से प्रभावित होकर रोलाँ बार्थ (1915–1980) ने साहित्य के क्षेत्र में अपने 'पढ़त सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए लेखकीय मृत्यु (द डेथ ऑफ ऑथर) की घोषणा की। रोलाँ बार्थ ने लेखक के नायकत्व को खारिज करते हुए कहा कि साहित्य में लेखकीय ऐकिक अर्थ साहित्य की सृजनात्मकता को नष्ट कर देता है। सुधीश पचौरी ने रोलाँ बार्थ की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि– ''वृत्तांत में कहानी कहने वाला (यानी लेखक) पाठ (अर्थ) की स्वतंत्रता के लिए खतरे की तरह है, जिसे कहानी के आस–पास भी नहीं होना चाहिए। वृत्तांत (साहित्य) पूरी तरह एक आत्मनिर्भर व्यवस्था है, जिसके अपने कायदे हैं। लेखक को चिह्न (अर्थ), वृत्तांत में स्वयं मौजूद रखता है। चिह्न–विज्ञान (अर्थ–विज्ञान) उसे ढूँढ़ लेता है। उसे वहाँ अलग से मौजूद रहने की जरूरत नहीं।''[11] इसे ही साहित्य के क्षेत्र में लेखक की मृत्यु कहा गया। लेखक की मृत्यु के बाद रचना में दमित अथवा मृत–अर्थों के अनेक भूत–प्रेत जिंदा होकर अपना आकार ग्रहण करने लगते हैं। इस संदर्भ में रोलाँ बार्थ ने साहित्य के 'पढ़त सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए अपनी यह मान्यता प्रस्थापित की कि प्रत्येक पाठक द्वारा रचना को दो दृष्टिकोणों से पढ़ना–समझना चाहिए। एक लेखकीय दृष्टिकोण से दूसरा स्वयं के दृ ष्टिकोण से। पढ़ने की इस प्रक्रिया में पाठकों द्वारा लेखकीय अर्थ को विस्थापित करते हुए अपने–अपने अर्थ संदर्भों को महत्व प्रदान किया जाता है और लेखकीय मंतव्यों एवं लक्ष्यों का एक तगड़ा प्रतिरोध उपस्थित किया जाता है यानी इस अवस्था में रचनाकार की मृत्यु हो जाती है और रचना ही लिखने लग जाती है अर्थात् पाठकों के अनुकूल अनेक निजी पाठों का निर्माण करने लग जाती है। किसी पुरुष लेखक द्वारा लिखित रचना का स्त्रियों द्वारा स्त्री–पाठ करना या सवर्ण लेखक द्वारा लिखी गई रचना का दलितों द्वारा दलित–पाठ करना, श्वेत–रचना का अश्वेत–पाठ, बहुसंख्यवादी रचनाओं का अल्पसंख्यक पाठ आदि–आदि कितने ही उप–पाठों की निर्मिति होने लगती है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'लेखक' से अलग होकर 'रचना' बहुत कुछ लिखती है, और प्रत्येक पाठक को उसकी इच्छानुसार कुछ–न– कुछ लिखकर देती है। और पाठक अपने–अपने अर्थ संदर्भों में अपने–अपने इन पाठों को लेकर अपने–अपने वादों का निर्माण करने लगते हैं। कृष्णदत्त पालीवाल ने इस संबंध में रोलाँ बार्थ के साहित्यिक अवदान के बारे में लिखा है कि– ''बार्थ 'फ्रॉम वर्क टू टेक्स्ट' में पाठ के अर्थ बाहुल्य के साथ संदर्भपरकता का विचार उठाते हैं और 'अंतर्पाठ' के भीतरी संदर्भों का महत्व उद्घाटित करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि पुराने काव्यशास्त्र को अपर्याप्त सिद्ध करते हुए अर्थ के 'अधिनायकत्व' का खंडन करते हैं। बार्थ का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने उत्तर–संरचनावाद और उत्तर–आधुनिकतावाद को चिंतन का रूढ़िविरोधी, क्रांतिकारी, सांस्कृ तिक–साहित्यिक आधार प्रदान किया।''[12] इस प्रकार पाठक रचना को लेखकीय अर्थ के एकत्व से मुक्ति प्रदान कर उसको अनिश्चितता और बहु–अभिव्यंजकता प्रदान करता है। विरचना (विनिर्मिति) की इस प्रक्रिया (दुहरी पढ़त) में प्रथम 'पाठ' कृति के मूल अर्थ के नजदीक जाने और दूसरा अथवा अन्य 'पाठ' लेखक द्वारा दबाये गए अर्थ (तत्त्व) को प्राप्त करने का प्रयास है। यानी 'उपस्थित' में 'अनुपस्थित' और 'प्रातिनिधिकता' में 'अप्रतिनिधि' अर्थ (पहचान) को खोजने की एक पढ़त–पद्धति यही रोलाँ बार्थ का पढ़त–सिद्धांत है, जोकि पूर्व–निर्धारित अर्थ के विस्थापन अथवा उसकी केंद्रहीनता का सिद्धांत है। एक तरह से 'रचना' या कृति का पाठक द्वारा पुनरुत्पादन, पुनर्समीक्षा या पुनर्मूल्यांकन। इसी 'पढ़त–पद्धति' से उत्तर–आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता का, मुक्ति–बोध ने कामायनी का और विजयदेवनारायण शाही ने पद्मावत का पुनरुत्पादन किया है। उत्तर–आधुनिकतावाद के इसी साहित्यिक पढ़त–सिद्धांत का इस्तेमाल करते हुए हमारे समकालीन हिंदी–साहित्यकार ने हमारे अतीत के पौराणिक आख्यानों का 'नव–पाठ' करते हुए उन्हें समकालीन उत्तर–आधुनिक युग की विडंबनाओं में अभिव्यंजित कर उनका पुनरुत्पादन या पुनराख्यान किया है।

विमर्श–विश्लेषण अथवा आलोचना का गैर–साहित्यिक दृष्टिकोण

उत्तर–आधुनिकतावाद की विचारधारा को विकसित करने वालों में मिशेल फूको (सन् 1926–1984) का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने विमर्श–सिद्धांत (द थियरी ऑफ डिस्कार्स) के प्रतिपादन से उत्तर–आधुनिकतावाद को सर्वथा एक नया आयाम प्रदान किया। मिशेल फूको के अनुसार राज्य एवं उसके समस्त सत्ता–संस्थान (सेना, पुलिस, कानून, जेल, अस्पताल, पागलखाने अथवा अन्य शक्तिशाली एजेंसियाँ) और सामाजिक संस्थाएँ (परिवार–विवाह–परंपरा एवं अन्य सामाजिक संस्थाएँ) ये सभी अपनी 'शक्ति' और 'सत्ता' विमर्श से प्राप्त करते हैं। फूको के मतानुसार विमर्श का अभिप्राय– ''किसी एक वस्तु के बारे में लोगों के बातचीत करने के तरीके या सोचने की पद्धति से है। ये तरीके मिलकर लोगों की सामान्य धारणा बनाते हैं।''[13] यानी किसी वस्तु और विचार के प्रति लोगों (किसी समाज या समुदाय विशेष) की यह सामान्य धारणा ही 'विमर्श' कहलाती है। और यह 'विमर्श' शक्ति एवं सत्ता का अपार–स्रोत होता है जो किसी संस्थान को अपनी ओर से पूर्ण शक्ति एवं सत्ता सौंपते हुए उसको मान्यता अथवा वैधता भी प्रदान करता है। जैसे हिटलर ने अपनी जाति के लोगों के साथ मिलकर यहूदियों के प्रति यह सामान्य धारणा बनाई कि जर्मन शुद्ध रक्त वाले हैं, वे ही आर्यों की प्रथम संतान हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय, जर्मन समाज में विजातीय तत्त्वों (यहूदियों) के घुस आने की वजह से हुई है। जर्मनों का जन्म ही इसलिए हुआ है कि वे दुनिया पर अपना राज कायम करें। जबकि यहूदियों ने इसमें बाधा पहुँचाई है, अतः उनका खात्मा किए बगैर जर्मनी की श्रेष्ठता को पुनःस्थापित नहीं किया जा सकता। यहूदियों के प्रति जर्मनों के इस विमर्श (सामान्य मान्यता प्राप्त धारणा) ने ही हिटलर और उसके राज्य को असीमित सत्ता एवं शक्ति प्रदान की और व्यापक स्तर पर हिटलर द्वारा जर्मनी में यहूदियों का सफाया (नरसंहार) किया गया। कहना न होगा कि 'विमर्श' ही सत्ता एवं शक्ति का स्रोत होता है अथवा उनको सामाजिक–सांस्कृतिक मान्यता और वैधता प्रदान करता है। इस संदर्भ में प्रत्येक युग का अपना एक विमर्श होता है जिससे उस युग में कोई वर्ग–विशेष शक्ति एवं सत्ता प्राप्त कर वर्चस्वशाली हो जाता है। युग बदल जाने के साथ विमर्श भी बदल जाता है, इसलिए शक्ति और सत्ता का भी एक वर्ग से दूसरे वर्ग में हस्तांतरण हो जाता है। इस संदर्भ में 'आधुनिकता' के संबंध में लोगों का विमर्श (सामान्य मान्यता प्राप्त धारणा) बदल जाने के कारण ही समकालीन उत्तर–आधुनिक युग में दलितों, दमितों, पिछड़ों, वंचितों, उपेक्षितों, स्त्रियों, अश्वेतों, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, अधीनस्थों और हाशिए के लोगों को सत्ता एवं शक्ति का हस्तांतरण हुआ है और वे अपनी गौण भूमिका से समाज की मुख्यधारा में संक्रमण कर रहे हैं। इन वंचितों या अन्यों को आज समाज में जो 'शक्ति–सत्ता' एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है वह सब इनको केंद्र में रखकर हुए विमर्शों से ही संभव हो सका है। इस परिप्रेक्ष्य में आज हिंदी साहित्य में और मुख्यतः इक्कीसवीं सदी के हिंदी औपन्यासिक साहित्य में 'बहु–नव–विमर्शों' का जो एक अंतहीन सिलसिला प्रारंभ हुआ है यथा स्त्री–विमर्श, दलित–विमर्श, आदिवासी–विमर्श, किन्नर–विमर्श,

किसान–विमर्श, श्रमिक–विमर्श, बाल–विमर्श, युवा–विमर्श, वृद्ध–विमर्श, विकलांग–विमर्श और पर्यावरण–विमर्श आदि–आदि– वह इन विमर्शों के माध्यम से संबंधित वर्ग द्वारा 'सत्ता' एवं 'शक्ति' प्राप्त करने का ही प्रयास है। इस दृष्टि से विर्मश–विश्लेषण 'उत्तर–आधुनिकतावाद' की एक महान उपलब्धि है जो उसे उत्तर–आधुनिकतावाद के महान सिद्धांतवेत्ता मिशेल फूको द्वारा प्रदत्त की गई है। कृष्णदत्त पालीवाल ने फूको के विमर्श–सिद्धांत के स्वरूप एवं उसके महत्व को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि – ''सामाजिक संस्थान, विमर्श को उत्पन्न करते हैं, उन्हें शक्ति–सामर्थ्य देते हैं। कोई भी शक्ति चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक विमर्श के माध्यम से ही सक्रिय रहती है और सक्रियता उसे स्थापित करती है। सभ्यता और संस्कृति के सभी मानदंड शक्ति के विमर्श से ही निष्पत्ति पाते हैं। शक्ति ज्ञान से पैदा होती है –सद्, असद् का ज्ञान भी शक्ति के विमर्श से होता है। अतः केवल सत्य को जानना ही काफी नहीं है सत्य के भीतर पैठकर उसे पाना भी होता है।''[14] फूको के इस विमर्शवादी–विमर्श ने साहित्य के अध्ययनों को सर्वथा एक नवीन उत्तर–आधुनिक आयाम दिया और साहित्य को समझने–परखने की एक नई पद्धति 'विमर्श–विश्लेषण' विकसित हुई। हिंदी साहित्य में बहुविध विमर्शों की स्थापना और अभिव्यक्ति इसी आलोचना–पद्धति से संभव हो सकी है जिसने साहित्यिक आलोचना (रसादि–काव्यशास्त्रीय आलोचना) को बेदखल कर साहित्य के मूल्यांकन में असाहित्यिक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया है।

'साहित्य का अंत' और 'शून्य–लेखन'

उत्तर–आधुनिकता में साहित्य के अंत से अभिप्राय है साहित्य की मौलिकता, महानता एवं उपयोगिता का नष्ट हो जाना एवं नवीन उत्तर–आधुनिक परिस्थितियों में किसी महान एवं उपयोगी साहित्यिक रचना का निर्माण असंभव हो जाना। वृद्ध या विकसित पूँजीवाद द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का बाजारीकरण कर दिए जाने के कारण साहित्य भी बाजार से जुड़कर एक सामान्य पण्य उत्पाद बनकर रह गया है। अर्थात् जो बिकता है वही रचा जाता है, इसलिए उदात्त, महान एवं मानवीय जीवन के लिए उपयोगी साहित्य सृजन महत्वहीन होकर एक असंभव–कर्म हो गया है दूसरे समकालीन युग में मानवीय जीवन का नव–पूँजीवादी अतिशय भोगवाद, इंद्रिय–सुखवाद एवं विकट व्यवसायवाद की गिरफ्त में आने के कारण जीवन की संवेदनाओं, भावनाओं और सहजानुभूतियों के नष्ट हो जाने से भी किसी प्रकार की महान, उदात्त एवं मौलिक साहित्यिक रचना का निर्माण संभव नहीं हो पा रहा है, इन परिस्थितियों में साहित्य केवल पेरोडी (किसी पूर्व रचना का पुनर्निर्माण या पुनर्रचना) और पेश्टिच (नकल) मात्र बनकर रह गया है। यही साहित्य के अंत की स्थिति है। इस स्थिति के संदर्भ में सुधीश पचौरी ज्याँ बोड्रिलार्ड के मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि– ''इस वक्त (समकालीन उत्तर–आधुनिक युग) में रचना संभव ही नहीं है। नकल, पेश्टिच और पेरोडी ही संभव है। यहाँ कोई प्रतिरोध संभव नहीं है। जनसंचार माध्यमों ने यह काम (साहित्य का अंत) कई तरह से किया है। पहले यथार्थ खूब दिखाया है। फिर उसे छिपाया है। फिर यथार्थ के अभाव को छिपाया है और अंततः यथार्थ को बेदखल कर दिया है। यथार्थ का संबंध–विच्छेद कर दिया है यही साइमूलक्रा (छलना या प्रपंच) है जहाँ अर्थ (यथार्थ) का अंतिम संहार हो जाता है।''[15] अर्थात् यथार्थ के गायब हो जाने एवं यथार्थ के भ्रम (अति–यथार्थ की छलना) या आभासी–वास्तविकता की उत्तर–आधुनिक परिस्थितियों ने उदात्त–साहित्य निर्माण को ही असंभव कर दिया है। इसीलिए अब– ''साहित्य सिर्फ संभावना होता है, संभव नहीं होता। पाठ या कृति घटना मात्र होती है, उपलब्धि नहीं। इसीलिए वे (उत्तर–आधुनिक साहित्यकार) अपने सर्जक के नहीं होते। उनका अर्जन बहुत तुरत–फुरत होता है।''[16] कहने का अभिप्राय यह है कि समकालीन युग में साहित्य के आवश्यक तत्त्व उसकी सृजनात्मकता का अंत होकर साहित्य केवल सूचना–मात्र बनकर रह गया है, रोलाँ बार्थ ने इसे ही शून्य–लेखन (जीरो डिग्री राइटिंग) कहा है। अर्थात् आज के साहित्य में न तो कुछ अपूर्व है और न ही कुछ विलक्षण। उसकी महानता, उदात्तता, पवित्रता, दार्शनिकता, आध्यात्मिकता, अलौकिकता, नैतिकता, मूल्य एवं आदर्श आदि सब कुछ आज व्यर्थ एवं प्रभावहीन हो गए हैं। उत्तर–आधुनिकतावाद का मानना है कि आज समस्याओं का हल आदर्शों, मूल्यों एवं नैतिकताओं से संभव नहीं रह गया है, अतः साहित्य का अंत आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद के साथ न होकर केवल यथास्थिति अथवा सूचनात्मक यथार्थ के साथ ही होता है समस्या का कोई आदर्श समाधान उसमें प्रस्तुत नहीं किया जाता। यह साहित्य की नैतिक हेतुओं के प्रति प्रतिबद्धता का अंत है। एक तरह का शून्य–लेखन, साहित्य की रिक्तता–शून्यता अथवा अनुपयोगिता। रोलाँ बार्थ ने साहित्य की इस अनुपयोगिता (नैतिक अप्रतिबद्धता) को ही साहित्य की सबसे बड़ी नैतिक उपयोगिता के रूप में स्वीकार किया है। जैसे फ्रांस का ईफिल टावर उपयोगी न होकर भी उपयोगी है। सुधीश पचौरी ने रोलाँ बार्थ के शून्य–लेखन संबंधी मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि – ''राइटिंग डिग्री जीरो, यानी शून्य–लेखन। संरचनाओं की खोज के अंतिम सिरे पर पहुँचकर अंततः मिलने वाला शून्य। जैसे फ्रांस का ईफिल टावर। एक रिक्त संरचना। यह रिक्त ही शून्य लेखन है। यह हर संरचना में होता है। यह शून्य लेखन ही असली अर्थ पैदा करता है।''[17] चूंकि साहित्य भी एक संरचना है अतः उसकी भीतरी रिक्तता या शून्य लेखन (नैतिक–अप्रतिबद्धता) ही उपयोगी है क्योंकि यह रिक्तता अथवा शून्यता ही हर पाठक को अपने–अपने अर्थ–संदर्भ प्रदान करती है। जैसे कि अंतरिक्ष की रिक्तता–शून्यता प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, तत्त्व एवं चेतना को उसका अर्थ–संदर्भ यानी अस्तित्व प्रदान करती है। इसलिए अंतरिक्ष और ईफिल टावर जैसी संरचनाओं के समान ही साहित्यिक संरचनाओं (विधाओं) के निर्माण को भी भीतर से खुला छोड़ना (शून्य निर्माण) ही उनकी सबसे बड़ी उपयोगिता हो सकती है। उत्तर–आधुनिक युग के साहित्य का 'शून्य लेखन' पाठकों को उनके अर्थ–संदर्भ (अस्तित्व) प्रदान करने की दृष्टि से तो बहु–उपयोगी हो सकता है लेकिन समकालीन युग के उत्तर–पूँजीवादी बाजारवाद ने तो 'साहित्य–लेखन' की उपयोगिता को ही बेदखल करने का उपक्रम प्रारंभ कर दिया है जहाँ न तो कोई 'आदर्श–लेखन' और न ही कोई 'शून्य–लेखन' के साहित्य का महत्व शेष रह गया है। बाजारवाद और नैतिकता के चरम पतन के कारण शासक और जनता दोनों के लिए ही 'साहित्य–लेखन' महत्वहीन और व्यर्थ हो गया है। केवल और केवल बाजार शेष रह गया है जहाँ– ''ज्ञानोदय, बाजार में आकर पुण्य (व्यापार) बनकर बिखर गया है। हम न दर्शन देख पा रहे हैं, न रचना अनुभव कर पा रहे हैं, न समीक्षा हो पा रही है।''[18] यही उत्तर–आधुनिक युग में साहित्य के अंत की स्थिति है। जिसके संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है कि– ''उत्तर–पूँजीवादी समाज में यह आवाज बार–बार उठ रही है कि हम साहित्य क्यों पढ़ें ? साहित्य रचने और पढ़ने की प्रासंगिकता क्या है ? कारण साहित्यकार गुजरात से हों या अन्य कोई प्रांत, नरसंहारों, सांप्रदायिक दंगों, धार्मिक उत्पातों, नारी पर होने वाले अमानवीय कृत्यों आदि का पिछले वर्षों की तुलना में ज्यादा बुलंद आवाज में विरोध कर रहे हैं। पर सत्ता के बहरे कान उसे नहीं सुनते। या फिर सत्ता इतनी ढीठ हो गई है कि सुनकर भी अनसुना कर देती है– अपने संगठन के दम पर। अगर अंग्रेज प्रेमचंद की पहली किताब को जब्त करता था, तो उसका अर्थ–संदर्भ था। आज का शासक किताब को ही कूड़ा समझे बैठा है।''[19] अर्थात् उत्तर–आधुनिक युग में वैश्विक–बाजारवाद के सम्मुख साहित्य के वास्तविक स्वरूप का नष्ट हो जाना ही साहित्य के अंत को सूचित करता है।

नव–इतिहासवादी विमर्श अथवा सांस्कृतिक अध्ययन क्षेत्र

नव–इतिहासवादी विमर्श, उत्तर–आधुनिक आलोचना की वह पद्धति है जो साहित्य के इतिहास का सांस्कृतिक–पाठ करते हुए उन अकथित स्थलों को उद्घाटित करती है जिन्हें साहित्यिक इतिहास में स्थान देने योग्य न समझकर बहिष्कृत कर दिया गया है। यह पद्धति साहित्य को युगीन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में समझने की दृष्टि देती है। एक तरह से साहित्य के इतिहास का सांस्कृतिक अध्ययन करते हुए उसमें दमित–वंचित–अकथित अन्यों को केंद्र में लाने की पद्धति। नव–इतिहासवादी अथवा सांस्कृतिक अध्ययन क्षेत्र की पद्धति साहित्य को केवल साहित्य की दृष्टि से देखने का निषेध करती हुई साहित्य और इतिहास की पारस्परिक अंतर्निर्भरता को रेखांकित करती है। यानी यह पद्धति साहित्य के विशुद्ध रूपवाद (काव्यशास्त्र) को अस्वीकार करती हुई यह स्थापना करती है कि साहित्य न तो इतिहास है और न ही उससे स्वतंत्र कोई स्वायत्त विधा। दोनों परस्पर अंतर्निर्भर हैं और एक के बिना दूसरे का कोई महत्व नहीं है। साहित्यिक पाठ की संरचना का निर्धारण युग विशेष की संस्कृति ही करती है और संस्कृति चूंकि इतिहास का ही अवशेष है, इसलिए साहित्य का ऐतिहासिक–सांस्कृतिक अध्ययन करते हुए उसमें निहित काले–अध्यायों को उघाड़ना ही 'नव–इतिहासवादी' विमर्श है। कुल मिलाकर इतिहास अप्रामाणिक है क्योंकि उसमें अधिकांशतः एक वर्चस्वशाली वर्ग–विशेष का ही वर्णन मिलता है, सामान्य–दमित जन वहाँ अनुपस्थित होता है। इतिहास केवल केंद्र में रहे हुए लोगों का वृत्तांत होता है, परिधि और हाशिए का जीवन जीने वाले लोगों के साथ वह न्याय नहीं कर पाता। इसलिए इस विमर्श ने इतिहास के पुनर्मूल्यांकन और उसकी पुनर्व्याख्या करने की आवश्यकता को रेखांकित किया है। एक तरह से इतिहास का पुनरुत्पादन अथवा नव–इतिहास लेखन। हिंदी साहित्य में हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, साहित्य में दूसरी परंपरा की खोज और हिंदी साहित्य का आधा इतिहास इसी विमर्श का उत्पाद रहे हैं। सुधीश पचौरी के शब्दों में उत्तर–आधुनिकता ''इतिहास से अलग एक जटिल इतिहास संभव करती है, जो उपलब्ध ऐतिहासिक आसानी और एकध्रुवीय परिभाषा से अलग जा पड़ता है। यहाँ आकर इतिहास बदल जाता है। क्योंकि उसके कर्त्ता (इतिहास लिखने वाले) की अवधारणा बदल जाती है, उसके विषय की अवधारणा बदल जाती है। यह उपलब्ध इतिहास को चुनौती देती है, यही उसकी ऐतिहासिकता है।''[20]

'नव–मार्क्सवादी' विमर्श

'नव–मार्क्सवादी' विमर्श उत्तर–आधुनिकता की वह अवधारणा है जो उत्तर–संरचनावाद की मुख्य रणनीति विखंडन के माध्यम से नव–पूँजीवाद (बहुराष्ट्रीय निगमों वाले उपभोक्तावादी पूँजीवाद) के केंद्रवाद को विस्थापित कर उससे पीड़ित–दमित जन को सत्ता का हस्तांतरण करना चाहती है। इस दृष्टि से नव–मार्क्सवाद, समकालीन विकसित–पूँजीवाद को 'नव–साम्राज्यवाद' के रूप में देखकर उसका एक ठोस प्रतिरोध खड़ा करता है। साहित्य के क्षेत्र में लुई अल्थूसे और जेमेसन का नाम नव–मार्क्सवादियों में विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों ने 'वैचारिकी' को 'शक्ति एवं सत्ता' प्राप्त करने एवं उसे नियंत्रित करने का महत्वपूर्ण स्रोत घोषित किया और साहित्य को 'वैचारिकी' का दर्जा प्रदान करते हुए दमनात्मक प्रणालियों के विरुद्ध दमितों–दलितों के लिए अपनी अस्मिता की खोज एवं सत्ता प्राप्त करने के स्रोत के रूप में स्वीकार किया। इसलिए इन्होंने साहित्य की गहन व्याख्या को आवश्यक बताया। कृष्णदत्त पालीवाल ने जेमेसन के साहित्यिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि– ''इतिहास तो आर्थिक जरूरतों की क्रूरतम वास्तविकता का नाम है। इसलिए दमन–प्रणालियों का बड़ा भारी अर्थ–संदर्भ है। 'साहित्यिक–पाठ' के अर्थ–संदर्भों में इन दमन–प्रणालियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अकथित स्थल वे इतिहास हैं जिनका दमन किया गया है। साहित्य और जीवन में 'आख्यान' मात्र कथन पद्धति भर नहीं है अपितु वह 'एपिस्टिमोलॉजिकल कैटेगरी' अर्थात् ज्ञान–मीमांसा परक कोटि है जो 'यथार्थ' को सहज रूप में उजागर करने के लिए अपनाई जाती है।''[21] यानी जेमेसन के अनुसार साहित्यिक आख्यानों (फिक्शन) में दमन–प्रणालियों की कलात्मक उपस्थिति विद्यमान रहती है अतः उनका गहन अध्ययन कर अकथित स्थलों (अनुपस्थितों) को प्रकाशित करना जरूरी है। इन अकथित (दमित) स्थलों को ढूँढ़ने के लिए साहित्य का ऐतिहासिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है अतः नव–मार्क्सवाद एक प्रकार का सांस्कृतिक मार्क्सवाद है जो समकालीन उत्तर–पूँजीवाद को भी सांस्कृतिक–परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करता है। इसके अनुसार बहुराष्ट्रीय निगमों वाला नव या उत्तर या वृद्ध–पूँजीवाद एक सांस्कृतिक अवस्था में परिणत हो गया है जहाँ यह पॉप–कल्चर (लोकप्रिय–संस्कृति) और उपभोक्तावाद को अतिशय बढ़ावा देकर जनता में एक सुस्ती, शिथिलता और उदासीनता बनाए रखना चाहता है जिससे कि उसके बुर्जुआ मूल्यों के प्रति कोई विद्रोह या क्रांति आकार ग्रहण न कर सके। नव–मार्क्सवादी–विमर्श के मतानुसार जैसे–जैसे उच्च–पूँजीवाद, विज्ञापन, प्रचार और लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से उपभोक्तावाद को बढ़ाता जाता है वैसे–वैसे वह कामगार वर्ग के उत्पीड़न की वास्तविकता को छुपाता रहता है, इस स्थिति में उत्पीड़ित वर्ग अपने उत्पीड़न से अनभिज्ञ रहता है और अपनी दुःखी स्थिति का उसे ज्ञान (भान) नहीं होता है, यह एक प्रकार से उसकी बेहोशी की स्थिति है, जो नव–पूँजीवाद द्वारा अपनी अनेक युक्तियों से उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार उत्पीड़ित वर्ग की संतुष्टि की यह स्थिति क्रांतिकारी इच्छा को कमजोर करती है और पूँजीपति वर्ग को उसकी लाभदायक स्थिति में बनाए रखने में मदद करती है। वर्तमान में अमेरिका का नव–सांस्कृतिक साम्राज्यवाद इसी स्थिति का प्रतिबिंब है। लेकिन नव–मार्क्सवादी साहित्यकार एवं आलोचक का काम है कि वह साहित्य एवं आलोचना की 'वैचारिकी' के माध्यम से उत्पीड़ित को वास्तविक स्थिति का ज्ञान करवाए।

'उत्तर–संरचनावादी' विमर्श

'उत्तर–संरचना' साहित्यिक पाठ की एक विधि या पद्धति है जो पाठ में अर्थ की अस्थिरता, परिवर्तनशीलता, बहुलार्थकता और अनंतता को महत्व प्रदान करती है। इसलिए साहित्यिक पाठ में किसी एक अर्थ (सत्य) की खोज असंभव है। यानी किसी 'रचना' का संपूर्ण अर्थ प्राप्त कर लेने का दावा नहीं किया जा सकता। उत्तर–संरचनावादी विमर्श के अनुसार भाषा में अंतर्निहित संरचनाएँ रचनाकार के पूर्वाग्रहों के प्रति संवेदनशील होती हैं इसलिए साहित्यिक रचनाओं के भाष्य हर युग में बदलते रहते हैं। इस विमर्श में प्रत्येक परंपरावादी और आधुनिक संरचना यथा राष्ट्र–राज्य, उसके संस्थानों (सेना–पुलिस–जेल आदि), समाज (परिवार–विवाह–परंपरा) और व्यक्ति (हिटलर आदि) दमनात्मक संरचनाओं का विखंडन (सत्ता का अपकेंद्रण) किया जाता है। यही उत्तर–संरचना है। यानी पूर्व–स्थापित सभी दमनात्मक संरचनाओं का अस्वीकार उनका विखंडन और उनकी पुनर्व्याख्या एवं पुनर्निर्माण। इस संदर्भ में उत्तर–संरचनावादी आलोचना पारंपरिक और आधुनिककालीन साहित्य की पुनर्व्याख्या करते हुए उसमें दमित–अर्थों का उद्घाटन करती है। एक प्रकार से साहित्यिक पाठों (रचनाओं) के कुछ खास विचारों को खारिज कर दिया जाना। सारतः उत्तर–संरचनावादी विमर्श एक अर्थ–मीमांसीय दृष्टिकोण है जो साहित्य में ऐकिक अर्थ का निषेध करते हुए उसके अनेक अर्थों (सत्यों) को स्थापित करता है और अर्थ के अनेकांतवाद–बहुलतावाद का समर्थन करता है। इस विमर्श या आलोचना पद्धति द्वारा साहित्यिक महावृत्तांतों और संरचनाओं (विधाओं) में मुख्यार्थ की

दमनकारी भूमिका को नकार दिया गया है। इस पद्धति को विकसित करने में जाक् देरिदा, गिलिस डेल्यूज, ज्याँ बोड्रिलार्ड, जॉन लॉक, रोलाँ बार्थ आदि की अपने–अपने दृष्टिकोण से विशेष भूमिका रही है।

निष्कर्ष

साहित्य में 'उत्तर–आधुनिकतावाद' साहित्यिक महाख्यानों एवं साहित्य निर्माण एवं मूल्यांकन के पूर्व–स्थापित नियमों और शाश्वत् प्रतिमानों का अस्वीकार करते हुए अनेक उत्तर–आधुनिक आलोचना पद्धतियों यथा विरचना, पाठ अथवा पढ़त सिद्धांत, विमर्श–विश्लेषण, नव–इतिहासवादी विमर्श, नव–मार्क्सवादी विमर्श एवं उत्तर–संरचनावादी विमर्श के माध्यम से साहित्यिक पाठों में उन अकथित स्थलों अथवा दमित तत्त्वों का अनुसंधान करना है जिनका इतिहास में किसी–न–किसी रूप में दमन किया गया है। इस रूप में उत्तर–आधुनिकतावाद, साहित्यिक पाठों (संरचनाओं) में निहित दमनात्मक–प्रणालियों का विखंडन करते हुए उन पाठों की पुनर्समीक्षा और पुनर्निर्माण की एक सतत् प्रक्रिया है।

संदर्भ सूची

1. दोषी, एस.एल, 2005, आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जयपुर एवं नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशन्स, पृ.–197
2. यादव, डॉ. वीरेंद्र सिंह, 2011, उत्तर–आधुनिकता : विचार एवं मूल्यांकन, नई दिल्ली, ओमेगा पब्लिकेशन्स, पृ.–101
3. यादव, डॉ. वीरेंद्र सिंह, 2011, उत्तर–आधुनिकता की पृष्ठभूमि : कुछ विचार, कुछ प्रश्न, नई दिल्ली, ओमेगा पब्लिकेशन्स, पृ.–14
4. वर्मा, रवींद्र, 2007, दस बरस का भँवर, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.–33
5. वही, पृ.–35
6. पचौरी, सुधीश, 2006, आलोचना से आगे, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.–167
7. पालीवाल, कृष्णदत्त, 2010, उत्तर–आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–23
8. पचौरी, सुधीश, 2006, आलोचना से आगे, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.–79
9. पालीवाल, कृष्णदत्त, 2010, उत्तर–आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–125
10. वही, पृ. –65
11. पचौरी, सुधीश, 2006, आलोचना से आगे, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.–186
12. पालीवाल, कृष्णदत्त, 2010, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–40
13. दोषी, एस.एल., 2005, आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव–समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जयपुर एवं नई दिल्ली, रावत पब्लिकेशन्स, पृ.–249
14. पालीवाल, कृष्णदत्त, 2010, उत्तर–आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–47
15. पचौरी, सुधीश, 2010, उत्तर–आधुनिक साहित्यिक विमर्श, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन पृ.–97
16. पचौरी, सुधीश, 2006, आलोचना से आगे, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.–79
17. वही, पृ.–185
18. नवीन, देवशंकर, एवं मिश्र, सुशांत कुमार (संपादन), 2012, उत्तर–आधुनिकता : कुछ विचार, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–19
19. पालीवाल, कृष्णदत्त, 2010, उत्तर–आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–215
20. पचौरी, सुधीश, 2012, उत्तर–आधुनिक साहित्यिक विमर्श, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–97
21. कृष्णदत्त, पालीवाल, 2010, उत्तर–आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.–53